किसान कैसे लड़ते हैं?

स्वामी सहजानंद सरस्वती

भागलपुर ज़िले में, गंगा के किनारे, उत्तर की ओर सोनबरसा गांव है। गांव बड़ा है और ब्राह्मणों की बस्ती है। कुछेक को छोड़ साधारण श्रेणी के ही किसान वहां बसते हैं।

उस इलाके में मिस्टर ग्रांट की ज़मींदारी है। उनकी दो कोठियां नारायणपुर और लत्तीपुर में हैं। एक तो अंग्रेज़, दूसरे ज़मींदार। फिर तो 'करेला नीम पर चढ़ गया।' सो भी ग्रांट साहब कोई ऐसे-वैसे अंग्रेज़ नहीं। वे बड़े ही चलते-पुर्ज़े और तपाक वाले थे।

उनकी न सिर्फ भारत सरकार और प्रांतीय सरकार तक ही चलती थी, वरन ठेठ अंग्रेज़ी सरकार और पार्लियामेंट में भी उनकी धाक थी। फलतः यदि संयोग से कभी यहां उनकी सुनवाई न होती तो पार्लियामेंट के मेंबरों के द्वारा अपना काम बना लेते थे। इसीलिए यहां के छोटे-बड़े सभी हाकिम-हुक्काम उनसे डरते और पनाह मांगते थे। किसी के ऊपर उनकी ज़रा-सी नज़र बिगड़ी कि उसकी खैरियत नहीं।

परिणामस्वरूप वे अपनी बड़ी ज़मींदारी में जेठ के महीने के मध्यान्ह के सूर्य की तरह तपते थे। किसी किसान या मजलूम की क्या मजाल कि चूं करे। सभी थर्राते रहते और बिना ज़ुबान हिलाए ही उनके ज़ुल्मों को चुपचाप सहते थे, क्योंकि 'न तड़पने की इजाज़त थी, न फर्याद की थी। घुटके मर जाएं, मर्जी यही सैय्याद की थी!' उनके छोटे-मोटे अमलों की नादिरशाही और मनमानी-घरजानी का ऐसी हालत में आसानी से अंदाज़ लगाया जा सकता है – वे किसानों के लिए यमराज से भी बढ़कर थे।

जैसा कि ज़मींदारों और सभी शासकों का कायदा होता है, ग्रांट साहब और उनके मैनेजर ने हर गांव के प्रभावशाली और चलते-पुर्ज़े लोगों को चुन-चुनकर अपना अमला बना लिया था और अपने किसी-न-किसी काम में लगा लिया था। फिर तो बाकियों के लिए कोई चारा न था, सिवाय इसके कि आंख मूंदकर उनका लोहा मानें और उनकी मर्ज़ी के खिलाफ सांस भी न लें। यदि गरीब और पीड़ित किसान अत्याचारों और ज़ुल्मों से ऊब कर कोई प्रतिकार करना चाहते भी, तो बेबस थे क्योंकि आज की तरह वह ज़माना किसान-सभा का न था कि ज़ालिमों को नाकों चने चबवाने

का काम आसानी से हो जाता। तब तो किसान अत्यंत विशृंखल और अप्रबुद्ध थे। हां, धीरे-धीरे उनमें जागृति आने ज़रूर लगी थी।

किसानों का तो एक ही बल है – संगठन। और वह उस समय उनमें था नहीं। अगर ऊबकर वे स्वभावतः संगठित होना चाहते भी, तो कोई मददगार न थे, प्रत्युत बाधक और फोड़ने वाले ही ज़्यादा थे। धनी और प्रभावशाली लोग तो साहब के डबल गुलाम पहले से ही बने हुए थे, और वे थे उनके पूरे नमक हलाल! इसलिए ज्यों ही बेचारे गरीब सुगबुगाते कि उस्ताद लोग आकर उन्हें ठंडा करने लग जाते। कभी भय, कभी तकदीर और कभी भगवान की बात लाकर उन्हें पस्त कर देते थे।

ग्रांट साहब गोरे तो हैं ही, तिस पर तुर्रा यह कि सात समुंदर पार आकर यहां ज़मींदारी कर रहे हैं! यह करम की बात और भगवान की मर्ज़ी नहीं तो और क्या है? उनके पूर्वजन्म की कमाई के बिना यह कैसे हो सकता है।

यही दलील उभड़ते हुए किसानों को ठंडा करने में जादू का काम कर जाती थी और सीधे-सादे किसान कलेजा मसोस कर रह जाते थे। साहब उन्हें उजाड़ डालेंगे, यह डर तो था ही।

लेकिन कहते हैं कि 'जुल्म की टहनी सदा फलती नहीं!' इसलिए एक न एक दिन मिस्टर ग्रांट का अत्याचार इन गरीबों को उभाड़े बिना नहीं रह सकता था। जब कई बार कोशिश करके भी वे साहब का बाल बांका न कर सके प्रत्युत स्वमेव तबाह हो गए, तो निराशा की दशा में अधीर बन गए और मतवालों की सी दशा में आ गए। और सोचने लगे कि साहब से जैसे हो निपटना ही चाहिए – चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हो।

बिल्ली बड़ी ही कमज़ोर होती है और आदमी से डरकर भागती है। लेकिन आखिर सब चीज़ों की सीमा होती है और डर भी मजबूरन कभी छोड़ना ही पड़ता है। आप उसी बिल्ली को खदेड़ते-खदेड़ते किसी ऐसे मकान में पहुंचा दें जिसमें एक ही दरवाज़ा हो, भागने के लिए खिड़कियां या रास्ते न हों, अंत में वह दरवाज़ा भी बंद करके यदि आप बिल्ली के पीछे पड़ जाएं तो नतीजा क्या होगा? वहां भी जान बचाने की कोशिश वह करेगी ज़रूर और इधर-उधर कूदे-फांदेगी भी। मगर बचाव की कोई आशा न रहने पर वह भागना बंदकर, पीठ को दीवार की ओर और मुंह आपकी ओर कर, सारी शक्ति से गुर्राना शुरू करेगी, जैसे कोई बाघिन हो। इतना ही नहीं। आप पर लपकेगी भी। अगर जान लेकर आप न भागे तो पंजे से आपका पेट भी फाड़ेगी या कम-से-कम मुंह नोच लेगी ज़रूर।

जान बचाने के लिए अब तक वह भागती-फिरती थी। अब आप भागिए, नहीं तो खैरियत नहीं!

यह उल्टी बात क्यों हो गई? बिल्ली को बाघिन किसने बनाया? निहायत डरपोक और कमज़ोर बिल्ली में यह अपार शक्ति एकाएक कहां से आ गई?

असल में संसार का यही नियम है। जुल्म की आंच में तपकर लोग इस्पात बन जाते हैं। उनकी कमज़ोरियां जल जाती हैं। जब चारों ओर से हारने के बाद ऊबकर मनुष्य जान पर खेल जाता और मतवाला (desperate) बन जाता है, तो उसके भीतर सोई हुई शक्ति का स्रोत एकाएक उमड़ पड़ता है। शक्ति कहीं बाहर से नहीं आती। वह तो हमारे भीतर ही रहती है, ठीक जैसे दूध में घी रहता और दिखाई नहीं देता। मगर जिस प्रकार मथने से मक्खन के रूप में वह जमा होकर नज़र आता है, ठीक उसी प्रकार जुल्म और अत्याचार की बार-बार की आवृत्ति प्रसुप्त शक्ति के लिए मथनी का काम करती है। प्रचंड निराशा के बाद जब 'मरता क्या न करता' के अनुसार हम जान पर खेलते हैं, तो वह शक्ति अनायास आगे आकर दुर्गा की तरह हमारी मदद करती है और शत्रु को पछाड़ती है। हिंदू लोग जो मानते हैं कि कलियुग के बाद सत्ययुग आता है, उसका यही अर्थ है। पहले दर्जे के परस्पर विरोधी पदार्थ मिल जाते हैं (extremes meet) – इस अंग्रेज़ी कहावत का भी यही आशय है।

इसी नियम के अनुसार आखिर सोनबरसा के किसान भी तैयार हो ही गए। गंगा के दियारे की ज़मीन पर झगड़ा था। हज़ारों बीघे फर्स्ट क्लास की ज़मीन थी। वह तो सोना थी। किसान कहते कि ज़मीन हमारी है, गांव वालों की है, साहब के मैनेजर कहते कि यह तो साहब की है। सब उपाय करके किसान थक गए। मगर

नतीजा कुछ न हुआ। साहब टस-से-मस न हुए।

बेशक, कानून तो है। मगर पीड़ितों के लिए तो वह ठीक वैसे ही है, जैसे कि वन में पका बेल बानर के लिए! गरीबों की आखिर कानून मदद ही क्या करेगा? वह तो अमीरों और धनियों के लिए है। कचहरियां उन्हीं की, हाकिम उन्हीं की बातें आसानी से सुनते, बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर उन्हीं को मिलते और पुलिस तथा फौज उन्हीं की सहायता के लिए चटपट पहुंच जाती है। इसीलिए कहते हैं कि रुपया कानून की छाती पर कोदों दलता है (money rules the law), फलतः, इस झमेले में पड़कर किसान सिर्फ घर का आटा गीला करते हैं। उनके हाथ कुछ लगता नहीं। जहां देखो रुपए की पूछ है और यही चीज़ गरीबों के पास नहीं होती। थाने से ही पैसे का प्रसंग शुरू होकर ठेठ ऊपर तक चला जाता है!

निरुपाय होकर गांव के सभी किसान एक दिन एकत्र हुए और सोचने लगे कि क्या किया जाए और उस ज़मीन पर अपना कब्जा कैसे जमाया जाए। देर भी नहीं कर सकते थे क्योंकि ज़मीन पर जंगल की तरह सरसों लगी थी और पक चुकी थी, जो देर होने से गिर कर खत्म हो जाती। सभी उदास थे। कोई अक्ल न चलती थी।

इतने में रामरूप कुमर नामक एक गठीले पर अपढ़ किसान ने कहा कि हम तो हज़ारों हैं और साहब हैं अकेले। नौकर-चाकर मिला कर पचास-सौ होंगे। यदि पुलिस या फौज लाएं तो ज़्यादा-से-ज़्यादा दो-तीन सौ हो जाएंगे। फिर भी तो हम उनसे कई गुना रहेंगे। ऐसी हालत में चलो जान पर खेलकर सभी चलें और सरसों काट लें। आखिर भूखों मरने से और दवा या वस्त्र के बिना घुल-घुलकर जान देने से तो अच्छा है कि या तो सरसों काटकर घर में धरें या गोली के घाट उतर जाएं। मर जाने पर तो भूख, प्यास, बीमारी, जाड़ा आदि सभी से पिंड छूट ही जाएगा। यदि जेल चले गए तो वहां भी हमारे मकान से कहीं सुंदर पक्का मकान, हमारे खाने से लाख दर्जे अच्छा खाना, और हमारे कपड़ों से कई गुना अधिक और अच्छा कपड़ा मिलेगा ही। वहां तो दवा भी मिलेगी। यहां तो मर जाते हैं और कोई पूछने वाला नहीं? फिर परवाह किसकी? असल में हमारा शत्रु यह भय ही है और इसे ही मार भगाना हमारा पहला फर्ज़ है। जो मौत और जो जेल इतनी अच्छी चीज़ें हैं जो हमारी हज़ार दिक्कतों की आसान दवाइयां हैं, उन्हीं से भय?

सब की आंखें अकस्मात खुल गईं और मालूम पड़ा कि समस्या सुलझ गई। सबके कलेजे बांसों उछल पड़े

और सबों में मुर्दानगी की जगह मर्दानगी उमड़ पड़ी। सभी बोल उठे कि ठीक है, ठीक है, अब लिया, तब लिया। अब तो मामला सर ही है। फिर रामरूप ने ही प्रश्न किया – मान लीजिए ज़मीन पर कब्ज़ा हो गया, तो भी बंटवारे के समय दिक्कत होगी और हम लोग आपस में ही झगड़ पड़ेंगे। फिर तो बना बनाया काम चौपट हो जाएगा और साहब की बन आएगी। आखिर आज तक वह हमारी ही फूट के बल पर बैठा है न? वह तो दोबारा उसी फूट और आपसी कलह से लाभ उठाएगा और बिल्लियों के झगड़े में बंदर बनेगा।

एक बात और। जब हमें साहब जैसे ज़बर्दस्त शत्रु से भिड़ना और उसे अच्छी तरह पछाड़ना है, तो पूरी तैयारी कर लेनी चाहिए। लाठी चलाने की नौबत होगी, जेल जाना होगा, मरना होगा, रुपए खर्चने होंगे और समय-समय पर अनेक ऐसे ही काम करने होंगे। कब कौन कितने आदमी, कितने रुपए या कितना सामान देगा इसका भी निपटारा अभी हो जाना चाहिए ताकि निश्चिंत होकर हमारी लड़ाई चल सके, नहीं तो बीच में ही गड़बड़ी होगी और आग लगने पर कुंआ खोदने का सवाल पैदा हो सकता है।

यह बात भी सभी को पसंद आई और सबने कहा – भाई रामरूप जी, आप ही यह गुत्थी भी सुलझाइए और आज से आप ही हमारे नेता बनिए। हमने मंगनी और उधार के बाहरी नेता बहुत देखे। मगर कुछ हुआ-हवाया नहीं। वे पढ़े-लिखे ज़रूर होते हैं, और आप अनपढ़ हैं। मगर आखिर गेहूं, चावल, चना, घी, मलाई आप और हम ही तो पैदा करते हैं न? भलेमानस, ये पढ़े-लिखे कब ऐसा करते हैं? वे तो हमारी कमाई का ही घी-हलुआ खाकर, लेक्चरों और बड़ी-बड़ी बातों के ज़रिए, सिर्फ उसकी बदहज़मी मिटाते हैं। आखिर शरीर से कोई काम तो वे लोग करते नहीं, यहां तक कि पैदल घूमते-फिरते भी नहीं। टहलने भी चलते हैं तो उनके बजाए प्रायः उनकी मोटर या घोड़ागाड़ी ही टहलती है। फिर ये चीज़ें पचें तो कैसे? इसलिए उन्हें लेक्चर देना पड़ता है। उससे 'एक पंथ दो काज' होता है। अन्न की बदहज़मी के साथ ही अक्ल की बदहज़मी मिट जाती है। यदि न बोलें तो उनकी बहुत ज़्यादा पढ़ी-लिखी बुद्धि उनके पेट और दिमाग के भीतर ही उछल-कूद मचाती रहती है। लेकिन हम तो अपनी मोटी बुद्धि से यही जानते हैं कि हज़ार लेक्चरों से न तो एक दाना गेहूं, चावल पैदा होता है और न पैसे भर घी, दूध। और इन चीज़ों के बिना तो दुनिया का, उन नेताओं का खुद भी काम नहीं चलता। लेक्चर के बिना तो कोई भूखों मरता नहीं। इसलिए हम चाहते हैं कि अब गेहूं, घी, दूध की तरह

नेता और लीडर भी हम अपने ही बीच पैदा करें। तभी हमारे कष्ट दूर होंगे। हमारे कष्टों को हमारा ही आदमी समझ सकता है। बाहरी क्या समझेंगे? 'जाके पांव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई?' सब कुछ पैदा करके भी भूखों हम मरते हैं या हमारे नेता? फिर वे क्या समझने लगे कि हमें क्या तकलीफें हैं? इसलिए हमारा नेता हम में से होना चाहिए।

सभी को यह बात अच्छी लगी और हां, हां बोल बैठे सबके सब। तब रामरूप ने कहना शुरू किया – आज त्याग और बलिदान का समय है। हो सकता है इस समय 'सबसे ज़्यादा त्याग हम करेंगे, हम करेंगे' ऐसी होड़ या ऐसी प्रतियोगिता दुर्भाग्य से हममें परस्पर न हो और बलिदान में बड़ा हिस्सेदार बनने को शायद कोई तैयार न हो। फिर भी ज़मीन मिलने पर तो ज़रूर ही 'हम धनी हैं, बड़े हैं, इसलिए हमें ज़्यादा मिले और फलां आदमी गरीब है, उसे कम मिले', 'हमारे पास ज़्यादा हल-बैल हैं और हमारा परिवार भी बड़ा है, मगर अमुक सज्जन के पास इन दोनों बातों में से एक भी नहीं है, इसलिए हमें ज़्यादा और उन्हें कम ज़मीन मिले', ये बातें उठेंगी। इसलिए मैं चाहता हूं कि आदमी और परिवार का ख्याल न करके सिर्फ हल-बैलों के विचार से शुरू से ही हिस्सेदारी तय कर दी जाए। यह सच नहीं है कि आखिर ज़मीन जोती जाती है हल-बैलों से ही, न कि धन और परिवार से। इसलिए आज ही हम क्यों न तय कर लें कि ये हल ही हिस्सेदार है? फिर गांव भर के हलों को, या फिलहाल दो बैल के हिसाब से बैलों को ही गिनकर हिस्सेदारों की संख्या यहीं पर हम निश्चित क्यों न कर लें? आगे जब-जब रुपए की ज़रूरत हो, लाठी चलाने वालों का काम पड़े, जेल-यात्रियों की आवश्यकता हो, या मौत के आलिंगन का मौका आए तो इन्हीं हलों के हिसाब से सभी लोग अपना हिस्सा बेखटके क्यों न चुकाया करें?

यह बात भी सबने पसंद की और कहा – भाई रामरूप जी ने तो आज सचमुच ही वास्तविक किसान नेता होने का परिचय दे दिया। उन्होंने हमारी सारी उलझनें सुलझा दीं। भला यदि कोई बाहरी नेता होता तो ये भीतरी बातें क्या समझता? यह सुलझन और यह रास्ता तो ठीक हमारे ही लायक है। ओह! इसे हम कितनी आसानी से समझ गए! बस अब कोई भी विवाद और बखेड़ा आगे खड़ा होगा ही नहीं। सचमुच ही लड़ाई में तो बड़ा हिस्सा कोई भी नहीं लेना चाहता। यही मानव स्वभाव है। मगर ज़मीन के बंटवारे के समय अवश्य ही यह तूफान खड़ा होता, जिसका समाधान हमारे भाई ने, हमारे नेता ने, कर दिया। हम तो हल के हिसाब से ही त्याग और बलिदान में

हिस्सा लेते-लेते इसी हिस्सेदारी के अभ्यासी बन जाएंगे, क्योंकि इसमें समय लगेगा। जल्दी तो यह झमेला निपटेगा नहीं। आखिर ग्रांट साहब कोई साग-मूली तो हैं नहीं कि जल्दी ही हम लोग उन्हें आसानी से गटक जाएंगे, या वह स्वयं मुरझा जाएंगे। हमें तो लोहे के चने चबाना होगा। अतः इसके लिए अभी से तैयार हो जाना चाहिए। ऐसी दशा में हम खामख्वाह इस हल वाली हिस्सेदारी के अभ्यस्त हो जाएंगे। फलतः बंटवारे के समय न तो किसी को ख्याल ही होगा और न हिम्मत ही होगी कि ज़्यादा या कम का दावा करे!

इसके बाद फौरन हलों की गिनती की गई। सारे गांव में कुल साढ़े तीन सौ हल ठहरे। बस ये ही साढ़े तीन सौ हिस्सेदार ठहराए गए और उस दिन सभा बर्खास्त हुई।

मगर यह बात छिपने वाली तो थी नहीं। साहब के दलाल और टुकड़खोर फौरन कोठी में पहुंचे और उन्होंने सारी दास्तान उन्हें सुना दी। साहब भी हैरान थे कि यह क्या हो गया! न कोई नेता आया और न मीटिंग वगैरा हुई, फिर एकाएक यह क्या हो गया? उनके दिमाग में यह बात आ ही न सकी। उनके होश-हवास उड़-से गए।

उन्हें ताज्जुब हुआ कि यहां भी सोवियत रूस की प्रथा एकाएक कैसे टपक पड़ी? किसने यह फितूर पैदा किया? उन्होंने सोचा कि चुपके से कोई बाहरी आदमी गांव आया होगा और वह यह मंत्र देकर चला गया होगा।

उन्होंने अपने जासूसों और दलालों से रह-रह कर पूछना शुरू किया — सच बताओ, कोई बाहरी आदमी आया था या नहीं? सबने एक स्वर से ना की। साहब को विश्वास न हुआ और सैकड़ों ढंग से जांचा-पूछा। मगर आखिर कोई आया हो तब न! लोगों ने कहा कि नेता या बहकाने वाले कोई सुई थोड़े ही हैं कि जो चाहेगा छिपाकर रख लेगा।

बात भी तो ठीक ही है। मगर पूंजीवालों, ज़मीदारों, या गैरों पर शासन करने वालों के दिमाग में तो सदा यही खब्त सवार रहता है कि पीड़ितों को, किसानों-मज़दूरों और दूसरे कमाने वालों को बाहरी लोग ही भड़काते और बहकाते हैं। नहीं तो ये बेचारे तो सीधे-सादे होते हैं। ये तो कभी भी धनियों, ज़मींदारों या सरकार का विरोध करना जानते ही नहीं।

इन शासक और शोषक भलेमानसों के दिमाग में यह मोटी बात आती ही नहीं कि जिसे बीमारी होती है वह स्वयं दवा के लिए चिल्लाता है। जो भूखा-प्यासा होता है, वह खुद अन्न-पानी की पुकार मचाता है। आखिर किसान-मज़दूर भूखे-नंगे तो होते ही हैं। बीमारियों में कीड़े-मकोड़ों की तरह

वे ही हज़ारों में मर भी जाते हैं न कि नेता। शोषक यह भी नहीं सोच सकते कि तेज़ भूख लगने और भयंकर दर्द पैदा होने पर कुंभकर्णी नींद भी टूट ही जाती है। सोए हुए लोग भी भूख और दर्द की शांति का उपाय ढूंढने लगते हैं। वे खुद डॉक्टरों को बुलाते हैं। न मिलने पर कोई-न-कोई रास्ता निकालते ही हैं। जादू-टोना और जंतर-मंतर की सृष्टि इसी आतुरता, और अन्य उपाय न मिलने का ही तो फल है। कहते भी हैं कि ज़रूरत आविष्कारों की जननी है।

शोषितों और पीड़ितों की ज़रूरतों ने ही नेताओं को पैदा किया है, न कि नेताओं ने ज़रूरतें पैदा की हैं। इसलिए बाहरी नेताओं पर रोक लग जाने पर पीड़ितों के भीतर से ही उनके नेता पैदा होते हैं। वे ही धुआंधार लड़ाई चलाते भी हैं। बाहरी नेता तो सुलह-सपाटे की बात भी सोचते हैं मगर उनके भीतर के नेता तो एक ही बात जानते हैं कि या तो पीड़ित और शोषित ही रहेंगे, या उनके लूटने वाले ही! दोनों तो रह नहीं सकते, क्योंकि बाहरी नेताओं की तरह किताबें पढ़कर तो सब बातें वे जानते नहीं। वे तो स्वयं भुक्तभोगी होते हैं।

यह भी स्वाभाविक ही है कि बीमार या भूखा आदमी रोग और भूख के साथ समझौता करने की बात सोच ही नहीं सकता। किसान और मज़दूर यह बखूबी जानते हैं कि उनकी बीमारी और उनकी भूख के कारण कौन हैं, उनकी कमाई को कौन लूटते हैं। इसमें किसी बाहरी आदमी के समझाने की ज़रूरत ही नहीं।

इसलिए आखिर मिस्टर ग्रांट को मानना ही पड़ा कि गांववालों ने बिना किसी बाहरी इशारे या मदद के खुद-ब-खुद यह काम किया है और अब हमें सिर्फ उन्हीं से सीधे लड़ना होगा। यह काम ज़रा कठिन है, यह भी वह समझने लगे। बाहरी लोगों पर तो मैजिस्ट्रेट साहब या पुलिस के ज़रिए कोई रोक लगाकर ही आसानी से काम चल जाता है। और नहीं हुआ तो सहस्त्रमुखी कानून की किसी धारा में ही लाकर उन्हें पकड़वा दिया। वो होते भी हैं एक-दो ही, मगर यहां तो आफत है। सैकड़ों हैं, हज़ारों हैं, गांव का गांव ही है। फिर इन पर कोई नोटिस भी तो आसानी से नहीं लग सकती है।

बहुत सोच-साचकर अंत में उन्होंने तय किया कि हथियारबंद पुलिस लाकर ही उन्हें रोक सकते हैं, हालांकि इसमें खर्च काफी होगा – स्थानीय पुलिस थोड़े ही है कि बिना कौड़ी खर्चे ही दौड़ी चली आएगी। हथियारबंद पुलिस बुलाने में तो पैसे कटेंगे। मगर किया क्या जाए? मजबूरी है।

उसने यह भी सोचा कि जब इस प्रकार का संगठन है, तो हथियारबंद जवान भी तो आखिर किसानों के ही

बच्चे हैं, सो भी इसी ज़िले या प्रांत के हैं। कहीं वे भी किसानों में न मिल जाएं! इसलिए हथियारबंद गोरखे ही लाना ठीक है।

इसके बाद फौरन मैजिस्ट्रेट के पास खुद ही पहुंचे और सारी कहानी सुना कर बारह गोरखों की मंजूरी ली। वे रवाना भी हो गए। साहब ने समझा कि इन बिगड़े दिमाग वालों को सदा के लिए दुरस्त करना है, नहीं तो रह-रह कर यह बला सिर उठाती ही रहेगी।

इधर किसानों को भी सब बातें मालूम हो गईं। उन्होंने भी देखा कि मामला बेढब है!

इतने में खबर लगी कि हथियारों से लैस गोरखे आए हैं। अंत में सचमुच ही ऐन गंगा की करारी धारा के किनारे उसी झगड़े वाली ज़मीन के पास वे लोग पहुंच भी गए।

सोनबरसा में सनसनी थी। घबराहट भी थी। मगर रामरूप कुमर बेफिक्र थे। जब किसानों ने यह खबर उन्हें दी, तो उन्होंने कहा कि फिलहाल तीन-तीन आदमी के हिसाब से फौरन कम-से-कम एक हज़ार आदमी कमरबंद जमा हो जाएं।

लेकिन असल सवाल तो यह था कि राइफलों और बंदूकों के सामने खाली हाथ या लाठी लिए ये हज़ार आदमी आखिर करेंगे ही क्या? ये तो बकरे की तरह केवल बलिदान हो जाएंगे। इसका क्या उपाय?

रामरूप ने कहा – उपाय ज़रूर होगा। घबराने की क्या बात? हम तो देहाती किसान हैं और उपाय भी वैसा ही करेंगे जो देहाती हो, सुलभ हो।

मगर लोग अचंभे में थे। उनके दिमाग में यह बात आती न थी कि राइफलों और बंदूकों के मुकाबले देहाती पदार्थ क्या हो सकता है! यही कानाफूसी चारों ओर हो रही थी।

तब तक रामरूप ने कहा कि हमारे गांव में सूखे बांस तो कटे-कटाए बहुत होंगे और होंगे पचासों हाथ लंबे भी। सभी ने कहा– हां, बांसों की क्या कमी?

– और किरासन का तेल और फटे-पुराने कपड़े?

उत्तर मिला – ये दोनों भी जितना चाहिए मिल सकते हैं।

इस पर रामरूप ने हुक्म दिया – बात की बात में सैकड़ों बांस, किरासन तेल और फटे-पुराने कपड़े खूब जमा किए जाएं।

लोगों ने सुनते ही पलक मारते, तीनों चीज़ों का ढेर लगा दिया।

फिर हुक्म हुआ कि पचास बांसों के पतले छोरों पर ये कपड़े खूब ज़्यादा लपेटे जाएं, ताकि घंटों जलते रहें और खत्म न हों।

लोग ताज्जुब में थे कि इस होली का क्या मतलब? इससे गोरखों की राइफलें कैसे मानेंगी? मगर अपने नेता

की आज्ञा फौरन पूरी की गई।

फिर, सभी बांसों के कपड़े किरासन तेल से तर कर दिए गए।

अब रामरूप ने कहा – हज़ारों आदमी तैयार हो जाएं, मुकाम पर चलने के लिए! याद रहे कि सरसों काटने के लिए सब के पास एक-एक हंसिया भी ज़रूर रहे!

बात-ही-बात में सब लोग तैयार हो गए। उसके बाद हरेक बांस के कपड़े में आग लगा दी गई और 'इंकलाब ज़िंदाबाद' के नारों के साथ दस-दस बीस-बीस आदमियों ने, जैसा कि रामरूप ने कहा, एक-एक बांस उठा लिया और उन सबों के जलते सिरे आगे करके सभी रवाना हो गए। दिन में एक साथ पचास बांसों से निकलने वाली लपट सभी को चकाचौंध में डालने वाली हो गई।

किसान फिर भी आश्चर्य में थे कि यह क्या तमाशा है!

पलक मारते ही गांव से निकल उस ज़मीन के नज़दीक वे लोग जा पहुंचे, जहां हथियारबंद गोरखे तैनात थे। दूर से साहब भी देख रहे थे। उन लोगों ने एक साथ पचासों लुक्काड़ जलते देख सोचा कि यह क्या? हज़ारों आदमी तो लुक्काड़ के पीछे थे। उनका गिरोह साफ नज़र आता न था। न तो गोरखे और न साहब ही इसका रहस्य समझ सके। फलतः घबरा गए। क्या करें क्या न करें – वे लोग इसी आगा-पीछी में थे।

राइफलें या बंदूकें सीधी भी न कर सके थे कि लुक्काड़ों वाला दल उनके पास आ गया। अब तो घबरा कर भागने की सोचने लगे क्योंकि हज़ारों के बीच जान का खतरा था। राइफल या बंदूक ठीक-ठीक चला सकना भी असंभव था। साहब तो ज़रा दूर थे। इसलिए वह तो भाग गए। मगर हक्के-बक्के गोरखों की क्या दशा हुई, इसका कोई प्रमाण न मिल सका। इतना सभी कहते हैं कि वे लापता हो गए।

कुछ का कहना है कि जान बचाने के लिए सभी गंगा में कूद गए और डूब गए, क्योंकि धारा बहुत तेज़ थी, गहराई भी काफी थी। दूसरों ने कहा कि किसानों ने ही सबों को उठाकर बीच धारा में फेंक दिया और सभी डूब मरे। यह भी ख्याल है कि तैरते-तैरते सभी, या कुछ लोग, कहीं दूर जा निकले और बच गए। मगर इतना सही है कि जिस काम के लिए वे आए थे वह तो नहीं ही हुआ। किसानों ने उनकी राइफलों एवं बंदूकों का बहुत ही सुंदर देहाती, पर लासानी, जवाब ढूंढ निकाला! अनपढ़ देहाती दिमाग ऐसे ही होते हैं, बशर्ते कि मन में पक्का-पक्की ठान लें!

इस प्रकार बिना एक बूंद रक्त बहाए, एक लाठी या गोली खाए और

एक भी जान दिए, किसानों की विजय हुई। फौरन ही सारी-की-सारी सरसों उन्होंने काटकर घर पहुंचा दी। देर होने में खतरा था कि साहब कोई और तूफान करता और वह खेत में ही पड़ी रह जाती।

अब तो पचासों हज़ार रुपए की संपत्ति किसानों के घर जा पहुंची। वे उन्हीं रुपयों से साहब से बहुत दिनों तक निपट सकते थे। उन हज़ार आदमियों को सारी सरसों काटने और ढोने में देर भी न लगी। हाथों-हाथ काम हो गया। यही तो सामूहिक शक्ति की महिमा है। अलग-अलग काटते तो न जाने कितनी देर होती और कितने पचड़े खड़े हो जाते!

उधर साहब की जान तो बची, मगर समूची कोशिश विफल हो जाने से उन्हें मर्मांतक वेदना हुई। खून-खराबा वगैरा का केस भी नहीं कर सकते थे। सबूत ही क्या था? गोरखे मरे या बचे, इसका कोई प्रमाण तो था नहीं। फिर किसने किसको मारा, यह भी बताने वाला कोई नहीं था। वहां तो जादू का काम हुआ और रामरूप की गंवई बुद्धि ने बाजी मार ली।

साहब ने पीछे हज़ार कोशिशें की कि किसानों को फंसाएं। गोरखों के खून को साबित करने के लिए उन्होंने आकाश-पाताल एक कर दिया। बहुत छान-बीन की गई। खूब दौड़-धूप हुई। मगर नतीजा कुछ न निकला। सोन-बरसा का एक कुत्ता भी साहब की ओर से न भौंकता था। पास-पड़ोस के लोग भी साहब से खुश थोड़े ही थे, समय-समय पर उसने सबों को परेशान जो किया था!

जो उनसे खूब हिले-मिले थे, वे भी किसानों की अभूतपूर्व विजय से अत्यंत प्रभावित थे। फलतः उनके विरुद्ध जुबान हिलाने की हिम्मत न कर सकते थे। असल में विजय का परिणाम ऐसा ही होता है कि शत्रु भी विरोध में

कुछ करने को तैयार नहीं हो सकते। *समस्त वायुमंडल ही बदल कर कुछ* और हो जाता है। इसीलिए तो कहते हैं कि जीतने वाले के साथी सभी हो जाते हैं, पर हारने वाले के कोई नहीं।

इस प्रकार रामरूप के नेतृत्व में किसानों ने उस ज़मीन पर दखल जमा लिया। साहब की हिम्मत ही न हो सकी कि पास आएं। गांव में जो लोग भीतर से उनके साथी थे, वे भी अपूर्व विजय और निराले संगठन को देखकर दब गए। आगे चलकर सारी-की-सारी ज़मीन साढ़े तीन सौ हलों में बराबर बांट दी गई। किसी ने कुछ भी चीं-चपड़ न की। सबने खुशी-र अपना-अपना हिस्सा स्वीकार कर लिया।

उसके बाद जब कभी भी मुकदमा लड़ने या लाठी चलाने की नौबत हुई तो हलों के हिसाब से अनायास ही काफी रुपए और काफी जवान जमा हो जाते थे। फिर तो विजय-ही-विजय थी।

एक बार मैं वहां गया था। मेरा *सामान दूसरी जगह पहुंचाने के लिए* बैलगाड़ी की ज़रूरत हुई। किसी ने रामरूप से कहा। फिर क्या था। साढ़े तीन सौ गाड़ियां आने की नौबत हो गई। मगर हमने रोका कि ज़रूरत ही क्या है!

हमने जब-जब रामरूप को देखा तब-तब हम खुश हुए। पूर्ण शांत और तगड़ा जवान, सबसे हंसकर बोलने वाला। किसानों को ऐसा ही लीडर तो चाहिए, न कि हम लोगों जैसे बातूनी और ढपोरशंख।

सोनबरसा का यह संगठन दुर्भेद्य चक्रव्यूह था, जिसके भीतर किसान अकंटक राज्य करते थे। पीछे सुना कि बहुत दिनों के बाद गांव के कुछ धनियों को घूस देकर साहब ने फोड़ा और किसानों पर जैसे-तैसे केस चलवाए।

मगर ग्रांट साहब और उनकी ज़मींदारी तकुवे की तरह सीधी तो हो ही गई!

स्वामी सहजानन्द सरस्वती: (1889-1950) उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले में पैदा हुए। एक संन्यासी होते हुए भी स्वामी जी ने न केवल देश के स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया था। वे अखिल भारतीय किसान सभा के सबसे प्रमुख नेताओं में से भी एक थे स्वामी जी की कुछ अन्य रचनाएं हैं – मेरा जीवन संघर्ष, किसान क्या करे, खेत मजदूर, क्रांति और संयुक्त मोर्चा आदि।
गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन समूह से जुड़े हैं।
सोनबरसा गांव के किसानों के संघर्ष की गाथा 'किसान कैसे लड़ते है?' पुस्तक से साभार। इस पुस्तक के प्रकाशक ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली हैं।